महाकाव्यों में प्रतिबिम्बित नारी जीवन

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
में
पी-एच०डी० उपाधि हेतु
प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की

संक्षेपिका

2004

निर्देशक
डा० देवेन्द्र कुमार गुप्ता
वरिष्ठ प्रवक्ता

प्रस्तुतकर्त्ता
मुकेश शर्मा

प्राच्य विद्या संकाय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार - 249404

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

महाकाव्यों में प्रतिबिम्बित नारी जीवन

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग

में

पी-एच०डी० उपाधि हेतु

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की

संक्षेपिका

2004

निर्देशक

डा० देवेन्द्र कुमार गुप्ता

वरिष्ठ प्रवक्ता

प्रस्तुतकर्त्ता

मुकेश शर्मा

प्राच्य विद्या संकाय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

हरिद्वार - 249404

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

भारतीय संस्कृति में पुरुष एवं प्रकृति के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति अभिलिखित है। भारतीय दर्शनग्रन्थों में पुरुष को परमात्मा एवं प्रकृति को उसकी आद्य शक्ति "नारी" कहा गया है। इस सृष्टि में सभी जीवों की जननी नारी है। विश्व की उत्पादिकता एवं पोषिका शक्ति नारी में निहित है। भारतीय दृष्टि से परिवार–संचालन, शिशु का पालन–पोषण एवं उसके संवर्धन का दायित्व नारी जाति पर ही निर्भर होता रहा है, इसीलिये भारतीय संस्कृति प्रारम्भ से ही नारी की उपासक रही है। नर हो या नारी प्रत्येक मनुष्य का परम एवं चरम् लक्ष्य है भगवत प्राप्ति या मुक्ति। इसी को लक्ष्य में रखकर ही मनुष्य मुक्ति प्राप्त करने के उपाय स्वरुप धर्म का साधन करता है। अतः नर एवं नारी को स्वयंधर्म में स्थित होकर ही अपने लक्ष्य की अग्रसर होना चाहिये। चूंकि नारी नर की जननी, नर की सहधर्मिणी, नर की संरक्षिका है, अतएव समाज में उसका महत्वपूर्ण स्थान है। सृष्टि की स्थापना में नारी जहां प्रकृति के रूप में चिन्हित है, वहीं वह लौकिक जगत में माता, पुत्री तथा पत्नी के रूप में चिन्हित है। भारतीय साहित्य में नारी अपने इन रूपों में समाज के लिए एक आदर्श प्रस्तुत करती है।

भारतीय समाज में स्त्रियों को अत्यधिक सम्मान दिया गया है। समाज में उसका प्रथम रूप माता है। मातृ शब्द का अर्थ है "आदरणीय"। आदि युग से लेकर आज तक मानव जिसे असीम श्रद्धा भेंट करता रहा है और जिससे अतुल स्नेह प्राप्त करता रहा है, वह रूप माता है। वह सन्तान की जननी बनकर उसे समस्त स्नेह एवं वात्सल्य पिलाती है एवं उसे अपनी आत्मा की प्रतिकृति मान उसे असीम सुख देती है। अतएव सन्तान को भी अपनी माता के प्रति किसी प्रकार का अनुचित आचरण नहीं करना चाहिए। नारी का द्वितीय रूप है पुत्री। समाज में उसको स्नेह की दृष्टि से देखा जाता था एवं उसका पालन पूरे मनोयोग से किया जाता था। परिवार का प्रत्येक सदस्य उसे अपना स्नेह प्रदान करता था। पुत्री भी परिवार में रहकर स्वतन्त्रतापूर्वक सभी कार्यों में अपना सहयोग प्रदान करती थी। नारी का तृतीय रूप है, पत्नी या भार्या। माना गया है कि स्त्री एवं पुरुष का संयोग ही पारिवारिक विकास का मूल है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही परमात्मा ने अपने को दो रूपों में विभक्त किया, वाम भाग से स्त्री एवं दक्षिण भाग से पुरूष इसीलिये स्त्री को पुरुष की अर्धांग्निी कहा गया है। पत्नी के रुप में न केवल वह अपने पति के लिये त्याग, सेवा एवं समर्पण करती थी, अपितु परिवार के सदस्यों को भी यथोचित सत्कार एवं स्नेह प्रादान करती थी। अतः पति भी पत्नी को मित्रवत् समझकर उसे सहयोग प्रदान करता था।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के नौ अध्यायों में नारी के सम्पूर्ण रूपों का चित्रण किया गया है। शोध–प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में इन महाकाव्यों के रचनाकाल तथा उनके महत्व पर प्रकाश डाला गया है। इस अध्याय में विभिन्न विद्वानों के तर्कों के आधार पर महाकाव्यों का काल–क्रम तथा उनका महत्व निश्चित करने का प्रयास किया गया है। इन विद्वानों में भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों के तर्कों को आधार बनाया गया है। इस अध्याय के अन्त में इन महाकाव्यों के महत्व पर प्रकाश डाला गया है कि किस प्रकार इन महाकाव्यों के नायकों के चरित्रों द्वारा समाज के लिये आदर्श प्रस्तुत किया गया, जो आज भी समाज के लिये अनुकरणीय बने हुए हैं।

द्वितीय अध्याय में कन्या के स्वरूप का विवेचन किया गया है। इस अध्याय में कन्या का समाज में स्थान तथा उसकी शिक्षा पर विवेचन किया गया है। यद्यपि धार्मिक दृष्टि से वंश चलाने तथा युद्ध में योद्धओं की आवश्यकता होने के कारण पुत्रों की ही कामना की जाती थी, लेकिन कन्या जन्म होने पर भी उससे किसी प्रकार की कोई घृणा या द्वेष किया जाता था, ऐसा कोई विशेष प्रसंग नहीं मिलता। माता–पिता के लिये कन्या दान "परोधर्म" समझा जाता था अतः उसके निरादर करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। वह परिवार के सभी सदस्यों के मध्य रहकर सुख–सुविधा, स्वतन्त्रता एवं मातृत्व प्राप्त करती थी। परिवार में उसका लालन–पालन पूरे मनोयोग से किया जाता था। पुत्र की भाँति उसके व्यक्तित्व के विकास में भी उदारता बरती जाती थी। तत्कालीन समाज में लोग कन्या जन्म के लिये अनेक मांगलिक कार्य भी करते थे। माना गया था कि कन्या जन्म के इच्छुक लोगों को कन्याश्रम–तीर्थ जाना चाहिए तथा पांचवे दिन गर्भाधान करने से कन्या रत्न की प्राप्ति होती है। महाभारत में उल्लेख है कि जिस प्रकार पिता पुत्र को जन्म देकर पितृऋण से मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार स्त्रियाँ भी पुत्री को जन्म देकर ऋण मुक्त हो जाती हैं। इसीलिये पुत्रियों को भी पुत्रों की भाँति स्नेह किया जाता था। सीता द्वारा कही गयी अनेक उक्तियों से प्रमाणित होता है कि वे अपने पिता के संरक्षण में रहकर पूर्ण सन्तोष एवं प्रसन्नता का अनुभव करती थी। तत्कालीन समाज में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि निसन्तान दम्पत्ति कन्या को गोद भी लेते थे। इन तथ्यों से निष्कर्ष निकलता है कि तत्कालीन समाज में किसी भी प्रकार से कन्या जन्म को समाज में अशुभ या निन्दनीय नहीं माना जाता था।

शुभ तथा मांगलिक कार्यों पर कुवाँरी कन्याओं की उपस्थिति अनिवार्य एवं शुभ मानी जाती

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

थी। सुन्दर एवं सुसज्जित कन्या का दिखाई पड़ना एवं उसके द्वारा स्वागत किया जाना सफलता एवं सौभाग्य का सूचक माना जाता था। उनको शुभ कार्यों में नियुक्त करने का कारण बताते हुए नारद ने कहा कि कुवाँरी कन्याओं में सदा लक्ष्मी निवास करती है एवं वह उनमें नित्य प्रतिष्ठित होती है, इसीलिये प्रत्येक कन्या शोभासम्पन्न, शुभकर्म के योग्य एवं मंगलकर्मों में पूजनीय है। जैसे खान में स्थित हुआ रत्न सम्पूर्ण कामनाओं एवं फलों की प्राप्ति कराने वाला होता है, उसी प्रकार महालक्ष्मी स्वरुप कन्या सम्पूर्ण जगत के लिये मंगलकारिणी होती है। इस प्रकार कन्या लक्ष्मी हैं तथा वह अपने सदाचार द्वारा उच्चकुलों के चरित्र की कसोटी समझी जाती है। राम के राज्याभिषेक के समय सुन्दर कुवाँरी कन्यायें उपस्थित थी। युधिष्ठिर भी प्रतिदिन कुवाँरी कन्याओं को स्पर्श करते थे। ऐसा करने से उनके सौभाग्य में नित्य प्रति वृद्धि होती थी। जिस प्रकार समाज में पुत्रों के संस्कार सम्पन्न किये जाते थे, उसी प्रकार पुत्रियों के भी कुछ संस्कार सम्पन्न किये जाते थे। कन्याओं के संस्कारों में मुख्य रुप से जातकर्म, नामकरण एवं विवाह संस्कार प्रमुख थे। यद्यपि अन्य संस्कारों का उल्लेख तो मिलता है परन्तु कन्याओं के सन्दर्भ में यह किस प्रकार सम्पन्न होते थे, इसका कोई विस्तृत उल्लेख नहीं मिलता। इस समय कन्याओं की शिक्षा का भी प्रबन्ध भी किया जाता था। ये कन्यायें गृह एवं गुरुकुल दोनों ही स्थानों में शिक्षा प्राप्त करती थीं। तत्कालीन समाज में अनेक ऐसे आश्रम स्थापित थे जहां कन्यायें रहकर वेद, कर्मकाण्ड एवं पारम्पारिक ज्ञान की शिक्षा प्राप्त करती थी। इस प्रकार की कन्याओं में स्वयंप्रभा, शबरी, वेदवती, अहिल्या एवं सुलभा प्रमुख थीं। इस प्रकार की कन्याओं को ब्रह्मवादिनी कहा जाता था तथा ये जीवन पर्यत्न अविवाहित रहती थीं। किन्तु अहिल्या का विवाह महर्षि गौतम से हुआ था। कर्मकाण्ड एवं पारम्पारिक शिक्षा के अलावा कन्याओं को अनेक प्रकार की ललित कलाओं की शिक्षा भी दी जाती थीं। इन शिक्षाओं में संगीत, नृत्य, गायन–वादन एवं सैन्य शिक्षा प्रमुख थी। इस समय संगीत शिक्षा देने का दायित्व मुख्य रूप से महिलाओं के ऊपर होता था। तत्कालीन समाज में स्त्रियों को सैन्य शिक्षा भी दी जाती थीं। कैकेयी, कौशल्या तथा शिखण्डी इसके प्रमुख उदाहरण हैं। उस समय स्त्रियों को प्रायः सभी व्यवहारोपयोगी विषयों की शिक्षा भी दी जाती थी। जिनमें कुछ शिक्षायें वे अपने पिता के घर पर तथा अन्य शिक्षा पति के घर पर प्राप्त करती थीं। यद्यपि इन अध्येय ग्रन्थों में कन्या के साम्पत्तिक अधिकारों का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है, किन्तु इतना निश्चित था कि कन्या को जो सम्पत्ति मिलती थी, उनमें मुख्य

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

थी। सुन्दर एवं सुसज्जित कन्या का दिखाई पड़ना एवं उसके द्वारा स्वागत किया जाना सफलता एवं सौभाग्य का सूचक माना जाता था। उनको शुभ कार्यों में नियुक्त करने का कारण बताते हुए नारद ने कहा कि कुवाँरी कन्याओं में सदा लक्ष्मी निवास करती है एवं वह उनमें नित्य प्रतिष्ठित होती है, इसीलिये प्रत्येक कन्या शोभासम्पन्न, शुभकर्म के योग्य एवं मंगलकर्मों में पूजनीय है। जैसे खान में स्थित हुआ रत्न सम्पूर्ण कामनाओं एवं फलों की प्राप्ति कराने वाला होता है, उसी प्रकार महालक्ष्मी स्वरुप कन्या सम्पूर्ण जगत के लिये मंगलकारिणी होती है। इस प्रकार कन्या लक्ष्मी हैं तथा वह अपने सदाचार द्वारा उच्चकुलों के चरित्र की कसोटी समझी जाती है। राम के राज्याभिषेक के समय सुन्दर कुवाँरी कन्यायें उपस्थित थी। युधिष्ठिर भी प्रतिदिन कुवाँरी कन्याओं को स्पर्श करते थे। ऐसा करने से उनके सौभाग्य में नित्य प्रति वृद्धि होती थी। जिस प्रकार समाज में पुत्रों के संस्कार सम्पन्न किये जाते थे, उसी प्रकार पुत्रियों के भी कुछ संस्कार सम्पन्न किये जाते थे। कन्याओं के संस्कारों में मुख्य रुप से जातकर्म, नामकरण एवं विवाह संस्कार प्रमुख थे। यद्यपि अन्य संस्कारों का उल्लेख तो मिलता है परन्तु कन्याओं के सन्दर्भ में यह किस प्रकार सम्पन्न होते थे, इसका कोई विस्तृत उल्लेख नहीं मिलता। इस समय कन्याओं की शिक्षा का भी प्रबन्ध भी किया जाता था। ये कन्यायें गृह एवं गुरुकुल दोनों ही स्थानों में शिक्षा प्राप्त करती थीं। तत्कालीन समाज में अनेक ऐसे आश्रम स्थापित थे जहां कन्यायें रहकर वेद, कर्मकाण्ड एवं पारम्पारिक ज्ञान की शिक्षा प्राप्त करती थी। इस प्रकार की कन्याओं में स्वयंप्रभा, शबरी, वेदवती, अहिल्या एवं सुलभा प्रमुख थीं। इस प्रकार की कन्याओं को ब्रह्मवादिनी कहा जाता था तथा ये जीवन पर्यत्न अविवाहित रहती थीं। किन्तु अहिल्या का विवाह महर्षि गौतम से हुआ था। कर्मकाण्ड एवं पारम्पारिक शिक्षा के अलावा कन्याओं को अनेक प्रकार की ललित कलाओं की शिक्षा भी दी जाती थीं। इन शिक्षाओं में संगीत, नृत्य, गायन–वादन एवं सैन्य शिक्षा प्रमुख थी। इस समय संगीत शिक्षा देने का दायित्व मुख्य रूप से महिलाओं के ऊपर होता था। तत्कालीन समाज में स्त्रियों को सैन्य शिक्षा भी दी जाती थीं। कैकेयी, कौशल्या तथा शिखण्डी इसके प्रमुख उदाहरण हैं। उस समय स्त्रियों को प्रायः सभी व्यवहारोपयोगी विषयों की शिक्षा भी दी जाती थी। जिनमें कुछ शिक्षायें वे अपने पिता के घर पर तथा अन्य शिक्षा पति के घर पर प्राप्त करती थीं। यद्यपि इन अध्येय ग्रन्थों में कन्या के साम्पत्तिक अधिकारों का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है, किन्तु इतना निश्चित था कि कन्या को जो सम्पत्ति मिलती थी, उनमें मुख्य

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

रूप से पिता से मिलने वाला कन्या–धन (दहेज) था, जो उसे विवाह के अवसर पर मिलता था। जबकि अविवाहित तथा भ्रातहीन कन्या पिता की समस्त सम्पत्ति की अधिकारी होती थी।

तृतीय अध्याय में विवाह के प्रकार पर विवेचन किया गया है। विवाह को मनुष्य के सामाजिक जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग माना गया है। समाज को संचालित करने, पारिवारिक जीवन को मधुर बनाने तथा सामाजिक जीवन में काम–भावना को पवित्रता प्रदान करने का श्रेय विवाह को ही है। इसलिये विवाह एक सामाजिक आवश्यकता है। विवाह के महत्व पर प्रकाश डालते हुए बताया गया है कि मनुष्य विवाह द्वारा उन सभी धार्मिक कृत्यों का पालन करता है, जो पत्नी के बिना असम्भव हैं। क्योंकि माना गया है कि पत्नी के अभाव में पति का कोई भी कृत्य पूर्ण नहीं माना जाता। इसीलिये पत्नी को पति की अर्धांग्नि कहा गया हैं। विवाह का दूसरा उद्देश्य पुत्र प्राप्ति था। माना गया था कि पुत्र ही पिता को "पुत" नामक नरक से त्राण दिलाता है, अतः पिता को पितृ ऋण से मुक्ति दिलाने के लिये विवाह आवश्यक था। जो पुरुष विवाह कर सन्तान उत्पन्न नहीं करता वह अधार्मिक माना जाता है। विवाह का तीसरा एवं अन्तिम उद्देश्य यौन–इच्छा की सन्तुष्टि रहा है। व्यक्ति की यौन–इच्छा की पूर्ति के लिये विवाह एक सुसभ्य तथा सुसंस्कृत माध्यम था।

विवाह के लिये वर एवं वधू की योग्यता का निर्धारण किया जाता था। जिनमें उनके कुल, शील, रुप, आचरण, स्वभाव तथा विशेष रूप से उनकी शारीरिक बनावट पर विचार किया जाता था। महाभारत में उल्लेख मिलता है कि सर्वांग सुन्दरी कन्या को उसके माता–पिता उसके अनुरुप वर को सौंप दे, अन्यथा उन्हें ब्रह्म हत्या का पाप लगता है। इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि विवाह के अवसर पर वर के शारीरिक शुभ लक्षणों को भी देखना जरूरी था। इसी भाँति वधू के भी शारीरिक लक्षणों को जांच कर उसका विवाह किया जाता था। प्रायः विवाह यौवनावस्था को प्राप्त करने पर ही होता था। इस समय समाज में अनेक प्रकार के विवाह प्रचलित थे। जिनमें प्रमुख रूप से ब्राह्म, देव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस, एवं पैशाच विवाह प्रमुख हैं। किन्तु इन आठ प्रकार के विवाहों में केवल प्रथम चार प्रकार ही सम्मानित थे, जबकि अन्तिम चार यद्यपि निन्दनीय माने गये थे, फिर भी ये सभी प्रकार के विवाह समाज में प्रचलित थे। उपयुक्त आठ प्रकार के विवाहों के अतिरिक्त प्राचीन समाज में स्वयंवर की प्रथा भी प्रचलित थी। स्वयंवर का अर्थ है "वधू का अपने अनुरुप स्वयं वर का चयन करना"। मूल रुप से यह प्रथा ब्राह्म, गान्धर्व एवं राक्षस विवाह का एक

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

सम्मिलित रूप थी। जिसमें कन्या की अभिरुचि, क्षत्रियों कुमारों के वीरकर्मों का प्रदर्शन तथा वधू के पिता का उत्तरदायित्व सभी न्यूनाधिक रूप में सम्मिलित थे। यह प्रथा तत्कालीन समाज में दो रूपों में प्रचलित थी। प्रथम में वधू एक स्थान एकत्र हुए वरों में से अपनी इच्छा के वर को चुनती थी कुन्ती एवं दमयन्ती ने इसी प्रकार के स्वयंवर में अपने–अपने पतियों को चुना था, जबकि दूसरे प्रकार के स्वयंवर में कन्या के पिता के निमन्त्रण पर बहुत से राजकुमार इकट्ठा होते थे तथा कन्या के पिता द्वारा कोई शर्त रख दी जाती थी तथा जो राजकुमार उस शर्त को पूरा करता था, उसके साथ ही कन्या का पिता अपनी पुत्री का विवाह कर देता था। सीता एवं द्रौपदी का विवाह इसी दूसरे प्रकार के स्वयंवर का उदाहरण है। स्वयंवर कराने का कारण मुख्यतः कन्याओं का अपहरण से बचाना था। चूंकि समाज में राक्षस विवाह होने के कारण कन्याओं का अपहरण हो जाता था, अतः इस प्रकार की घटना न घटित हो इसीलिये स्वयंवर प्रथा को आरम्भ किया गया, ताकि रखी गई शर्त को पूरा करने वाले वर को ही कन्या की प्राप्ति हो सके।

इन विवाहों के अलावा भी समाज में अनेक प्रकार के विवाह प्रचलित थे जिनमें प्रमुख था बहुविवाह प्रथा। यह दो रूपों में व्याप्त था। प्रथम बहुपत्नी प्रथा तथा द्वितीय बहुपति प्रथा। यद्यपि समाज में एक पत्नी व्रत को आदर्श माना जाता था, परन्तु फिर भी समाज में इस प्रकार के विवाह बहुधा होते रहते थे। ये प्रथा केवल राजाओं में ही नहीं अपितु ऋषियों में भी व्याप्त थी। एक से अधिक पत्नी रखना ऐश्वर्य का प्रतीक था। तत्कालीन समय में राजाओं के अन्तःपुर अनेक स्त्रियों से भरे रहते थे। एक अन्य विशेष प्रथा बहुविवाह प्रथा थी। जिसमें स्त्री एक से अधिक पति के साथ विवाह करती थी किन्तु ऐसी स्त्री को समाज में सम्मानित दृष्टि से नहीं देखा जाता था। फिर भी इस प्रकार के विवाह के उदारहण मिलते हैं, जिसके लिये तत्कालीन समाज में "द्रौपदी" एक प्रसिद्ध उदाहरण है। जिसका विवाह एक–एक करके पांचों पाण्डवों से हुआ था। इसके अलावा भी समाज में इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी मिले हैं लेकिन हिन्दू समाज में यह प्रथा अत्यन्त अल्प थी। धर्म, लोकाचार सच्चरिता एवं नैतिकता का समाज में इतना अधिक प्रभाव रहा कि इस प्रकार के विवाह को समाज में कोई सम्माननीय स्थान प्राप्त नहीं हो सका। इसके अलावा समाज में वर्ण विरुद्ध भी विवाह होते थे, जिन्हें अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह कहा जाता था। जिसका मुख्य कारण यह था कि तत्कालीन समाज में जाति–बन्धन कठोर नहीं थे, जिस कारण इस प्रकार के विवाह समाज में

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

होते रहते थे। तत्कालीन समाज में कुछ प्रसंग विवाह विच्छेद के भी मिलते हैं यद्यपि अग्नि को साक्षी मानकर किया गया विवाह अविच्छेद माना गया था फिर भी कुछ विशेष परिस्थिति में पति को पत्नी का त्याग कर देने का अधिकार था। लेकिन ये विच्छेद वर्तमान तलाक जैसे नहीं थे, क्योंकि ये विवाह विच्छेद मुख्य रूप से उस प्रकार के थे, जिनका आधार शर्त थी तथा इन विवाह विच्छेद के उदाहरण दोनों महाकाव्यों में मिलते हैं तथा इस काल में विवाह विच्छेद के जो प्रसंग मिलते हैं वे सभी स्त्री एवं पुरूष दोनों द्वारा मिलते हैं, किन्तु यह विच्छेद वर्तमान युग के तलाक जैसा नहीं था। और सामान्यतः इसमें पुनर्मिलन की सम्भावना रहती थीं। तत्कालीन समाज में विधवा पुनर्विवाह के भी उदाहरण मिलते हैं यह प्रथा आर्य तथा अनार्य दोनों में प्रचलित थी। जिसका कारण यह था कि विधवा स्त्री को भी अपनी सुरक्षा के लिये एक संरक्षक की आवश्यकता होती है, इस दृष्टि से विधवा स्त्री के लिये विवाह अत्यन्त अवश्य प्रतीत होता है। शान्ति पर्व में उल्लेख मिलता है जिस प्रकार पति के अभाव में स्त्री देवर को अपना पति बनाती है, उसी प्रकार पृथ्वी ब्राह्मण के पश्चात् क्षत्रिय को अपना पति बनाती है। इस तथ्य से स्पष्ट है कि स्त्री पति की मृत्यु के पश्चात् अपने देवर से विवाह करती थी। फिर भी अनेक ऐसे प्रसंग मिले हैं जहां विधवा विवाह की निन्दा भी गयी है।

चर्तुथ अध्याय में पत्नी के रूप में स्त्री का विश्लेषण किया गया है। प्रारम्भ से ही पत्नी का स्थान समाज में बहुत ऊँचा रहा हैं। दम्पत्ति शब्द स्पष्ट करता है कि वह पति के समान ही घर की स्वामिनी होती थी। वह पति के साथ सभी धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों को सम्पन्न करती थी। माना गया है कि पत्नी के बिना कोई भी व्यक्ति किसी यज्ञ को सम्पन्न नहीं कर सकता है, इसीलिये राम को अश्वमेघ यज्ञ कराते समय सीता की स्वर्णमयी प्रतिमा अपने वाम भाग में स्थापित करानी पड़ी थीं तभी जाकर उनका यज्ञ पूर्ण हुआ था। तत्कालीन समाज में पति–पत्नी के मध्य वैसी ही समानता पायी जाती थी जैसी दो मित्रों के मध्य पायी जाती है। पत्नी के लिये प्रयुक्त हुए शब्द "सहधर्मचारी" एवं "सहधर्मचारिणी" उसकी इसी महत्ता को प्रदर्शित करते हैं। पति भी उसके गुणों से प्रभावित होकर उसे सत्कार, पूजा तथा उसका सम्मान करता था। आदिपर्व में उल्लेख मिलता है कि जैसे धूप में तपे जीव जल में स्नान करके शान्ति का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार दुःख एवं चिन्ता से घिरा मानव अपनी पत्नी के समीप होने पर प्रसन्नता का अनुभव करता है।

पत्नी को अनेक कर्त्तव्य एवं अधिकार प्राप्त थे। जिनका वो परिवार एवं समाज में रहकर

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

उपभोग करती थीं। इनमें सबसे प्रमुख कर्त्तव्य पति को देवता मान कर उसकी सेवा एवं आराधना करना है। रामायण में उल्लेख मिलता है कि जो स्त्री अपने पति की जीवन पर्यन्त सेवा करती है वह बिना देवोपासना करे स्वर्गलोक को प्राप्त करती है। क्योंकि पत्नी के लिये पति सेवा सभी यज्ञ, तपस्या एवं दान से बढ़कर है। पतिव्रत–धर्म को बताते हुए बताया गया है कि देवता भी जिस लोक से वंचित रहते हैं, पतिव्रता स्त्री को वह सहज रुप में प्राप्त हो जाता है। पत्नी का दूसरा प्रमुख कर्त्तव्य पति की आज्ञा का पालन करना था। माना गया है कि पत्नी को जीवन पर्यन्त अपने पति की सेवा करते हुए उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिये। महाभारत के अनुसार पति पत्नी को जो भी धर्मानुकूल या धर्म विरुद्ध बात कहे, उसे उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिये। पत्नी का एक अन्य महत्वपूर्ण कर्त्तव्य पति को सभी प्रकार के धार्मिक कार्यों में सहयोग करना था, क्योंकि पत्नी पति को दो प्रमुख ऋणों से उऋण करने में सहयोग प्रदान करती थी। प्रथम यज्ञ में सहयोग कर देवऋण से, दूसरा सन्तान को उत्पन्न कर पितृऋण से। सहधर्मिणी के रूप में पत्नी की प्रतिष्ठा इस बात की स्वीकृति थी कि नारी धर्माचरण में पुरूष के समकक्ष है। वंश–वृद्धि के लिये पत्नी से आशा की जाती थी कि वो पति को सन्तान प्रदान करें। सन्तानोंत्पत्ति के लिये पत्नी के साथ सम्भोग करना गृहस्थों के लिये श्रेष्ठ धर्म माना गया है। पत्नी से आशा की जाती थी कि वो घर पर पधारे अतिथियों तथा परिवार एवं कुटुम्बजनों की सेवा करें। वह परिवार में रहकर सभी सदस्यों से मधुर सम्बन्ध स्थापित करती थी।

पत्नी के अधिकारों में सबसे प्रमुख था पति, पत्नी का भरण–पोषण एवं उसकी रक्षा करें। पति पत्नी के लिये अमित सुख प्रदान करने वाला, उसका पालन करने वाला तथा उसके लिये भोज्य सामग्री एकत्र करने के साथ–साथ उसकी रक्षा करने वाला कहा गया है। महाभारत में उल्लेख मिलता है कि यदि किसी परिस्थिति में पत्नी की रक्षा करना पति के लिये कठिन हो जाये, तो ऐसी परिस्थिति में मनुष्य को सलाह दी गई है कि वो राजा की सहायता ले।

इस अध्याय के अन्त में पत्नी को पति से मिलने वाले साम्पत्तिक अधिकारों का भी विवेचन किया गया है। जिनके सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि उन्हें एक सीमा तक साम्पत्तिक अधिकार प्राप्त थे। जिस प्रकार कौशल्या द्वारा राम के वन जाते समय ब्राह्मणों को दान तथा राम के राज्याभिषेक के अवसर पर सीता द्वारा हनुमान को दिव्य हार प्रदान किया गया था, इन तथ्यों से

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

पता चलता है कि तत्कालीन समाज में स्त्रियों का अपने धन एवं आभूषणों पर स्वामित्व होता था जिसका वे स्वेच्छा से दान एवं उपभोग कर सकती थी। किन्तु महाभारत में उल्लेख मिलता है कि इस प्रकार के धन का स्त्रियाँ सिर्फ अपने लिये उपभोग कर सकती थी उनको दान देने का उन्हें कोई अधिकार नहीं था।

पंचम् अध्याय में स्त्री के माता रूप का विवेचन किया गया है। हिन्दू समाज में प्रारम्भ से ही माता का स्थान सबसे अधिक आदरणीय, पवित्र एवं महत्वपूर्ण रहा है। सन्तान को नौ मास तक गर्भ में रखने, उसको जन्म देने तथा शैशवास्था से उसका पालन–पोषण करने से माता के साथ सन्तान का सम्बन्ध पिता की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ होता है। सन्तान को जन्म देने के कारण उसे धात्री, जननी, अम्बा तथा वीरसू कहा गया है। चूंकि सन्तान के लिये वही अधिक त्याग तथा उसे स्नेह करती है, इसीलिये माता सर्वश्रेष्ठ एवं पूजनीय है तथा उसके जैसा कोई गुरु नहीं। महाभारत में उल्लेख मिलता है कि जिस प्रकार काष्ठ से अग्नि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार माता से पुत्र उत्पन्न होता है।

माता के प्रमुख कर्त्तव्यों में सर्वप्रथम कर्त्तव्य था कि वो सन्तान को जन्म देकर वंश की परम्परा को बनाये रखे। यही कारण था कि समाज में वन्ध्या स्त्री को अशुभ माना जाता था। महाभारत में उल्लेख मिलता है कि यदि ऐसी स्त्री देवताओं को दिये जाने वाले हविष्य को देख ले, तो देवता भी उस हविष्य को ग्रहण नहीं करते तथा पितृ भी तेरह वर्षों तक असन्तुष्ट रहते हैं। इसी कारण सन्तान प्राप्ति के लिये तत्कालीन समाज में माताएं अनेक प्रकार की मंगल–क्रियायें भी करतीं थीं। माताएं अपनी सन्तान से अत्यधिक प्रेम करती हैं। वाल्मीकि ने मातृ–स्नेह को सच्चा आदर्शमान माता पुत्र के सम्बन्ध को गौ–वत्स की संज्ञा दी है। माता का दूसरा प्रमुख कर्त्तव्य अपने पुत्र की शिक्षका बन उसे सभी प्रकार की नैतिक शिक्षा प्रदान करना था। इस प्रकार की शिक्षाएं माताएं केवल अपने पुत्रों को ही नहीं देती थी अपितु अपनी पुत्रियों को भी वह इस प्रकार की शिक्षा देती थीं। सीता, शान्ता एवं द्रौपदी को उनकी माताओं द्वारा विवाह से पूर्व पतिव्रत–धर्मपालन तथा गृहस्थाश्रम धर्म की समुचित शिक्षा मिली थी। इसी भाँति सुमित्रा ने भी वन गमन से पूर्व अपने पुत्र लक्ष्मण को शिक्षा प्रदान की थी। इन तथ्यों स्पष्ट होता है कि माताएं सदैव अपनी सन्तान को कर्त्तव्यों का ज्ञान कराती रहतीं थीं। इस प्रकार की माताओं में सुमित्रा, कौशल्या, कुन्ती एवं विदुला प्रमुख हैं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

माताओं को मिलने वाले अधिकारों तथा पुत्र के कर्त्तव्यों में प्रथम था पुत्र माता को पिता के तुल्यमान उसकी सेवा करें क्योंकि पारिवारिक जीवन का वह केन्द्र बिन्दु थी। पुत्र भी माता को देव तुल्यमान उसकी सेवा में तत्पर रहता था तथा माता को अन्जाने में भी कष्ट या दुःख पहुचाने पर अपने को निकृष्ट मानने लगता था। इसीलिये माता को अपनी सेवा एवं कर्मों से प्रसन्न रखना पुत्र अपना कर्त्तव्य समझते थे। पिता की आज्ञा मान माता को दुःखपूर्ण स्थिति में देखना पुत्र के लिये हितकर नहीं था। माता की आज्ञा का पालन करना पुत्र का दूसरा प्रमुख कर्त्तव्य था। गर्भाधारण से लेकर सन्तान के पालन–पोषण एवं उसको गुरुकुल भेजने तक का सारा दायित्व माता का होता है, अतः पुत्र का कर्त्तव्य है कि वो भी माता का आज्ञा का पालन करें। रामायण में उल्लेख मिलता है कि जो व्यक्ति माता की नियम पूर्वक सेवा करता है, उसे स्वर्ग लोक एवं तपोबल की प्राप्ति होती है। इसीलिये माता की अराधना देव अराधना के समान मानी गयी है। प्रत्येक पुत्र का तीसरा एवं महत्वपूर्ण कर्त्तव्य है कि वो माता–पिता के वृद्ध होने पर उनकी सेवा, भरण–पोषण तथा रक्षा करें। महाभारत में गान्धारी का कथन है कि जो पुत्र माता–पिता का भरण–पोषण नहीं करता तो वह समाज में निन्दित होता है तथा मृत्युपरान्त उसे सद्गति नहीं मिलती। इसलिये पुत्र को माता–पिता के भोजन, वस्त्र औषधि का प्रबन्ध स्वयं करना चाहिए।

इस अध्याय के अन्त में माता तथा सन्तान के सम्बन्ध पर भी प्रकाश डाला गया है। साथ ही ऐसी माताओं का भी उल्लेख किया गया है जिन्होंने लोकभय एवं अन्य सामाजिक कारणों से अपनी सन्तान का त्याग कर दिया था इनमें कुन्ती एवं गंगा के उदाहरण प्रमुख है। किन्तु ये उदाहरण अत्यल्प हैं।

षष्ठ अध्याय में नारी के विधवा रूप का विवेचन किया गया है। विधवा होना किसी भी स्त्री के लिये अत्यन्त कष्टप्रद स्थिति होती है। महाकाव्यों के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय समाज में विधवाओं को अनेक नियम् एवं संयमों का आचरण करना होता था। अब उसे अनेक प्रकार के व्रत, उपवास एवं अग्निहोत्र करने पड़ते थे तथा उसका जीवन अब प्रायः भौतिक सुखों से वंचित हो जाता था। इन महाकाव्यों में विधवा स्त्री को सर्वत्र एकाकी और विहरपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए दिखाया गया है। पुत्रहीन विधवा की स्थिति तो अत्यन्त निकृष्ट होती थी, क्योंकि इस प्रकार की स्त्री को हर किसी के दुर्व्यवहार को सहना पड़ता था। वाल्मीकि जहां किसी भी वस्तु के नष्ट

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

या असमय क्षीण हो जाने की बात कहना चाहते हैं, वहां वे उसकी तुलना विधवा स्त्री से करते हैं। ऐसी विधवा स्त्रियाँ अब किसी विशेष प्रकार के आभूषण एवं परिधानों को धारण नहीं करती थी न ही सुगन्धित लेप से अपने शरीर को स्वच्छ रखतीं थीं। विधवा स्त्री का शोभाहीन होना अप्रत्यक्ष रुप से यह सकेंत करता है कि तत्कालीन विधवाएं आभूषण तथा चित्रित वस्त्रों को धारण नहीं करती थीं। लेकिन इसके बावजूद इस समय समाज में विधवा की स्थिति अच्छी थी तथा वे सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करतीं थीं। मांगलिक एवं अन्य शुभअवसरों पर उनकी उपस्थिति अशुभ नहीं मानी जाती थीं। राम के वन से लौटने पर जिन लोगों ने उनका स्वागत किया था उनमें उनकी विधावाएं माताएं भी थीं। राम के राज्याभिषेक तथा शत्रुघ्न के राज्याभिषेक के अवसर पर समस्त मांगलिक क्रियायें उनकी माताओं ने स्वयं सम्पन्न करवाई थीं। स्वयं कुन्ती ने भी अपने पुत्रों के विवाह के अवसर पर समस्त क्रियायें खुद ही सम्पन्न करवाई थी। इसी भाँति राज्यभिषेक के अवसर पर भी कुन्ती ने समस्त मांगलिक क्रियायें खुद सम्पन्न करवाई थी। पति की मृत्यु के पश्चात् उसका पालन–पोषण करना अब उसके पुत्र का कर्त्तव्य माना जाता था। लेकिन तत्कालीन समाज में विधवा स्त्री का अपने पति की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं था। पति की मृत्यु के पश्चात् अब वह अपना शेष जीवन पुत्र के साथ ही व्यतीत करतीं थीं। साथ ही वह अपनी सम्पत्ति का उपभोग भी पुत्र के माध्यम से ही कर सकती थीं।

सप्तम् अध्याय में समाज में व्याप्त सामाजिक प्रथाओं पर विचार किया गया है। इन प्रथाओं में मुख्य रुप से दहेज–प्रथा, सती–प्रथा, सती–वध, पर्दा–प्रथा एवं नियोग–प्रथा प्रमुख थीं। दहेज प्रथा का प्रचलन मुख्य रूप से कुलीन तथा वैभवशाली परिवारों में था, जो मुख्य रुप से अपने वैभव एवं वर्चस्व को दर्शाने के लिये अपने सामर्थ्य के अनुसार दहेज देते थे। जबकि सामान्य समाज (दरिद्र–समाज) में यह किस प्रकार व्यवहार में होता था इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। दूसरी प्रमुख प्रथा थी सती–प्रथा। सती शब्द का अर्थ है "अमर या सत्य पर दृढ़ रहने वाली"। जो पति–पत्नी के अटूट सम्बन्ध को व्यक्त करता है। इस प्रथा में पति की मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नी उसके शव के साथ सती हो जाती थी। इस प्रथा के उदाहरण मुख्य रुप से महाभारत में मिलते हैं, जहां माद्री, वसुदेव की मृत्यु के पश्चात् उनकी चारों पत्नियों आदि के उदाहरण मुख्य रूप से मिलते हैं। तत्कालीन समाज में सती होना एक पुण्य कर्म समझा जाता था, जिसका मुख्य कारण स्त्रियाँ

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अपने वैध्वय जीवन से मुक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से ही इस कार्य को करती थीं। एक अन्य प्रथा थी स्त्री–वध। स्त्रियों के प्रति समाज का व्यवहार बड़ा ही सहानुभूति पूर्ण होता था। इसी कारण उसे अवध्य माना जाता था। किन्तु जो स्त्री समाज–विरोधी, अनैतिक तथा व्यभिचार में लिप्त रहती थीं, तो ऐसी स्त्री का वध करना अनिवार्य माना जाता था। महाभारत में उल्लेख मिलता है कि जो स्त्री अपने श्रेष्ठ पति को छोड़ अन्यपापी की शैय्या पर जाती है तो उस कुलटा को खुले मैदान में छोड़ राजा कुत्तों से नुंचवा डाले। फिर भी यदि उन्हें किसी प्रकार दण्डित करना होता था तो उन्हें मार डालने की अपेक्षा प्रायः उन्हें विकृत या अंग–भंग कर देना ही उपयुक्त समझा जाता था। पर्दा–प्रचलन मुख्य रूप से राजपरिवार एवं उच्चकुलों में व्याप्त थी मुख्य रूप से स्त्रियाँ महलों से बाहर निकलते समय उत्तरीय धारण कर निकलती थीं। किन्तु विशेष परिस्थिति या कारणवश भी स्त्रियाँ बिना पर्दे के बाहर निकल कर आ सकतीं थीं। इसीलिये जब विभीषण सीता को अशोक वाटिका से लेकर राम के समीप गये तो सीता को एक विशेष पालकी में बैठाया गया था जिसमें पर्दे लगे थे, तब राम ने विभीषण को समझाते हुए कहा कि विपत्ति, कष्ट, यज्ञ एवं विवाह के अवसर पर स्त्रियों को देखने में कोई पाप नहीं लगता, अतः वे पालकी से उतर कर ही मेरे पास आयें। मुख्य रुप से इस प्रथा का प्रचलन राक्षस संस्कृति में अधिक था। इस समय स्त्री की चारित्रिक शुद्धि पर अत्यधिक बल दिया जाता था, इसी कारण जहां तक सम्भव होता था स्त्री को अवांच्छित पुरुषों की दृष्टि से बचाने के लिये ही पर्दे का विधान था। महाकाव्यों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इस समय समाज में नियोग–प्रथा भी प्रचलित थी। नियोग का अर्थ है " किसी नियुक्त पुरुष के सम्भोग द्वारा पुत्र प्राप्ति के लिये पत्नी या विधवा की नियुक्ति"। इस प्रथा के प्रचलन के उदाहरण मुख्य रूप से महाभारत में ही मिलते हैं। जहां महर्षि व्यास द्वारा विचित्रवीर्य की पत्नियों से समागम कर नियोग द्वारा पुत्रों को उत्पन्न किया गया था। धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा विदुर नियोग द्वारा व्यास से उत्पन्न पुत्र थे। इसी भाँति कुन्ती एवं माद्री ने भी अपने–अपने पुत्रों को देवताओं से नियोग द्वारा उत्पन्न किया था। हिन्दू समाज में पुत्र रहित होना निन्दित समझा जाता था। अत्एव नियोग का उद्देश्य यही था कि इससे सन्तान की उत्पत्ति हो, कामवासना की तृप्ति इसका कभी लक्ष्य नहीं रहा। इस प्रथा के कारण समाज में किसी प्रकार के व्यभिचार न फैले, इसीलिये अनेक कठोर नियम् भी बनाये गये थे। फिर भी निन्दित मानकर समाज में इसकी आलोचना भी की गई थी।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

अष्टम् अध्याय में समाज में व्याप्त व्यभिचार एवं विवाहेत्तर सम्बन्धों पर विचार किया गया है। यौन–इच्छा सभी प्राणियों में सहज रुप से उदित होती है। प्राचीन काल में ऋषि–मुनि यदा–कदा सम्भोग करके भी नित्य ब्रह्मचारी बने रहते थे। वह काम की महत्ता को समझकर केवल धर्म–सम्मत काम को अपनाते थे। इसमें वे पवित्रता को ध्यान में रखकर "एक पत्नीव्रत– सदग्रहस्थ" बने रहते थे। लेकिन इस प्रकार की इच्छा की सन्तुष्टि के लिये जो भी धर्म विरुद्ध होकर सम्बन्ध बनाये जाते थे, वे समाज में व्यभिचार के रुप में जाने जाते थे तथा ऐसे सम्बन्ध रखने वाले मनुष्य को नीच–कुल का माना जाता था। ये सम्बन्ध समाज में एक नैतिक बुराई के रूप में जाने जाते थे। किन्तु फिर भी समाज में इस तरह के सम्बन्ध बनते रहते थे। इस प्रकार के सम्बन्धों के लिये स्त्री एवं पुरुष दोनों ही जिम्मेदार होते थे। पुरुष वर्ग में इस प्रकार के सम्बन्धों में वानर, राक्षस, देवता, ऋषि एवं राजा प्रमुख थे। जबकि स्त्रियों में अनेक ऐसी स्त्रियों के वर्ग थे जो इस प्रकार के कृत्यों में संलग्न थी। इस प्रकार के सम्बन्ध रखने वाली स्त्रियों में अप्सरा, वेश्या एवं गणिका प्रमुख थीं। इनका मुख्य कार्य शारीरिक आनन्द, कामुकता एवं संगीत द्वारा वर्ग–विशेष का मनोरंजन करना था। अप्सरायें मुख्य रुप से देवताओं के आधीन रहती थीं तथा उन्हीं के कार्य विशेष के लिये ही पृथ्वी पर आती थीं। जबकि–वेश्या राजाओं के आधीन रहती थी किन्तु साथ ही अनेक ऐसी वेश्याओं के भी उल्लेख मिलतें हैं जो स्वतन्त्र रुप से इस प्रकार के कृत्यों में संलग्न थी। जिस प्रकार अप्सरायें देवलोक में इन्द्र एवं अन्य दवों की सेवा में तत्पर रहती थीं, उसी प्रकार पृथ्वी लोक पर ये वेश्यायें राजाओं की सेवा में उपस्थित होती थी। ये राजाओं के लिये गुप्तचर के कार्य भी करती थीं। अनेक शुभ अवसरों पर वेश्याओं की उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती थीं। राम के राज्याभिषेक के अवसर पर एवं कृष्ण के हस्तिनापुर की अगुवाई के दौरान वेश्याओं को भेजा गया था। लेकिन साथ ही साथ वेश्याओं की गतिविधिओं पर अकुंश भी रखा जाता था। महाकाव्यों में उल्लेख मिलता है कि राजा को चाहिए कि वह वेश्याओं पर नियन्त्रण रखें, क्योंकि वे कल्याण मार्ग पर चलने वाली प्रजा तथा समूचे राष्ट्र को हानि पहुंचा सकती हैं। साथ ही ब्राह्मणों को यह आदेश दिया गया था कि वे इनके द्वारा दिया गया भोजन ग्रहण न करें। इसी तरह समाज में एक अन्य स्त्री वर्ग था जिसे गणिका कहा जाता था। यह सामान्य वेश्या नहीं थी, अपितु उन्हें समाज में उच्च स्थान प्राप्त था। सामान्य जीवन में गणिकाएं राजा की प्रतिष्ठा की सूचक थी। इसी कारण समाज में उनके प्रति किसी प्रकार का घृणापूर्ण

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

दृष्टिकोण नहीं था। यें जिस शहर में रहती थीं वे शहर उन्नति एवं सौन्दर्य के प्रतीक माने जाते थे।

नवम् अध्याय में महाकाव्यों में वर्णित मुख्य स्त्री–पात्रों के चरित्रों पर विचार किया गया है। इन नारी पात्रों में मुख्य रूप से सीता, कैकेयी, मन्दोदरी, उर्मिला, द्रौपदी, कुन्ती एवं गान्धारी प्रमुख हैं। इस अध्याय में इन नारियों के बाल्यावस्था से लेकर उनके मातृत्व तक के आदर्शों का समावेश किया गया है। मुख्य रुप से सीता, उर्मिला का त्याग जहां समाज के लिये एक उत्कृष्ट आदर्श प्रस्तुत करतें हैं। वहीं द्रौपदी, मन्दोदरी, कुन्ती, कैकेयी एवं गान्धारी का मातृत्व भी अपने में उत्कृष्ट है कि उन्होंने अपने पुत्रों के लिये सभी प्रकार के कष्ट सहकर भी उनका पालन–पोषण किया।

महाकाव्यकालीन यें नारियाँ अपने तीनों रूपों (कन्या, पत्नी एवं माता) में अपने कर्त्तव्यों एवं अधिकारों के प्रति जागरूक थी जो पति के अंकुश में रहने वाली निरीह पत्नी नहीं अपितु समय एवं अवसर पड़ने पर अपने पति को सद्प्रेरणा देने वाली ओजस्विनी पत्नियाँ भी थीं।

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA